ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-6* Issue-3* June- 2021
Anthology : The Research

सांख्य–योग दर्शन में वियोग–योग

Viyoga-Yoga in Sankhya-Yoga Philosophy

Paper Submission: 14/06/2021, Date of Acceptance: 25/06/2021, Date of Publication: 26/06/2021

राजेश्वर सिंह
सह आचार्य,
विश्वविद्यालय दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर, बिहार, भारत

सारांश

भारतीय दर्शन में सांख्य योग परम्परा एक द्वैतवादी परम्परा है क्योंकि यह स्वतन्त्र अस्तित्व–वाले प्रकृति एवं पुरुष के द्वैतवादी सिद्धान्त में विश्वास करती है। आत्म के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति और उसका प्रकृति से वियोग इस परम्परा का लक्ष्य है।

In Indian Philosophy, Sankhya Yoga trandition is a dualistic tradition because it kelieves in the independent existence of the dual principles of purusha and prakriti. The realisation of the pure nature of the self and also of its disdinction from Prakriti is the goal of this tradition.

मुख्य शब्द : सांख्य दर्शन, योग दर्शन, वियोग, पुरुष, प्रकृति, चित्तवृत्ति निरोध, समाधि।

Shankhya Philosophy, Yoga Philosophy, Descrimination, Purusha, Prakriti, Secesion of Chittavritte, Samadhi.

प्रस्तावना

प्रस्तुत लेख पूर्णतया विमर्शात्मक एवं समालोचनात्मक है। इसमें शास्त्रीययोग की यथार्थ व्याख्याओं की पक्षधरता एवं योग संबंधी प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का प्रत्याख्यान कर स्वाभिमत यौगिक क्रियाओं के पूर्वपक्ष का साग्रह प्रतिपादन सांख्ययोग के 'वियोग–योग' के तंत्रालोक में किया जा रहा है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत पत्र का मुख्य उद्देश्य सांख्यीय परम्परा द्वारा प्रकृति–पुरुष के परस्पर वियोग को प्रतिपादित करना है।

विषय–विस्तार

योग दर्शन, महर्षि कपिलोक्त सांख्य का परिशिष्ट रूप होने से 'उत्तरसांख्य' के रूप में अभिहित किया जाता है। समान तंत्र :– वस्तुतः एक ही 'तंत्र' के दो पक्ष हैं – पूर्वपक्ष अर्थात् सांख्यशास्त्र एवं उत्तरपक्ष अर्थात् योगशास्त्र। फिर भी, दोनों समान तंत्र के रूप में सर्वत्र मान्य हैं – 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'[1] पुनश्च – 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'।[2] भगवद्गीता के दोनों कथन हमारी उक्त मान्यता को पुष्ट करते हैं। इनकी समान तंत्रता इस बात में भी निहित है कि सांख्य जिन सिद्धान्तों को तत्त्वमीमांसीय स्तर पर प्रस्तावित करता है, योग उन्हें ही व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित करता है। वस्तुतः सांख्य, योग एवं आयुर्वेद ये तीनों ही प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति की शाखाएं हैं। सांख्य आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखत्रय की निवृत्ति (चिकित्सा) प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान, भेद ज्ञान से करता है, जबकि योग की मान्यता है कि 'सर्वं दुःखं मानसिकमेव' अर्थात् प्रथम दृष्ट्या सभी दुःख मानसिक ही हैं, अतः चित्तवृत्तियों के निरोध से मानसिक आरोग्यलाभ प्राप्त किया जा सकता है तथा मानसिक आरोग्य लाभ से शारीरिक आरोग्य स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। आयुर्वेद शारीरिक आरोग्य के लिए नाना जड़ी–बूटियों को निर्दिष्ट करता है। वस्तुतः तीनों मिलकर सम्पूर्ण पुरुष–प्रकृति संयोगजात सृष्टि की व्याख्या सुतरां करते हैं।

भारतीय योग की सुदीर्घ परम्परा में योगत्रय कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तथा योगचतुष्टय – हठयोग, लययोग, मंत्रयोग और राजयोग का प्रतिपादन उपनिषद, भगवद्गीता, पुराण, योगसूत्र, योगवासिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता आदि अनेक ग्रंथों में किया गया है। उपर्युक्त में से पातंजलयोग सूत्र में प्रतिपादित राजयोग ही पूर्णरूपेण सांख्यीय परम्परा का योग माना जा सकता है तथापि प्राचीनतम यौगिक परम्परा होने के कारण सांख्ययोग का प्रभाव एवं अनुसरण अन्यत्र भी दृष्टिगत होता है। योगसूत्र के व्याख्याकारों में व्यास, भोजदेव, नागेश, रामा, नन्दयति, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, नारायण तीर्थ,

वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, हरिहरानन्द तथा उदयवीर शास्त्री के नाम प्रमुख हैं। इसमें भी व्यास भाष्य प्रसिद्ध है।

सांख्ययोग की मूल भावना के अनुकूल 'योग' शब्द के अर्थ की निष्पत्ति के पूर्व अन्यान्य ग्रंथों एवं मतवादों में उपलब्ध अर्थ का संक्षिप्त दिग्दर्शन आवश्यक है। अमरकोष में 'योग' शब्द की उद्भावना करते हुए – **'योगः सन्नहनोपायध्यान संगतियुक्तिषु'** कहा है। इन सब रूढ़ अर्थों का मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थों का मिलना – संयोग। यथा–योद्धा का कवच और हथियार से संयोग, किसी इष्ट फल के साधने के लिए विविध कारणों और करणों का संयोग, औषधियों का संयोग, चित्त का विषय से संयोग, अंततः जीवात्मा–परमात्मा का अभेदानुभवात्मक संयोग।

सम्प्रति, योग का अर्थ – शरीर और चित्त की वह क्रिया, वह अभ्यास जिससे कोई विशेष सिद्धि प्राप्त हो जाए या फिर शारीरिक, मानसिक आदि व्याधियों से मुक्ति मिल जाए। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए आज वैश्विक स्तर पर योग के अनेक संगठन सक्रिय हैं, जिससे व्यक्ति एवं समाज को लाभ हो रहा है। किन्तु तथाकथित योगवृत्तिधारी योगियों द्वारा भारतीय योग विद्या का दुरूपयोग भी एक तथ्य है, जो इस विद्या की मूल भावना एवं लक्ष्य के विपरीत है। योग एक व्यावहारिक दर्शन है, जिसमें सिद्धान्त सहजतया सन्निविष्ट है। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तापत्रय के शमनार्थ प्रयुज्यमान यौगिक–क्रियाओं के पूर्वपक्ष की श्लाध्यनीयता सर्वत्र प्रतिपादित है। यद्यपि यौगिक–क्रियाओं के सैद्धान्तिक पक्ष का बौद्धिक–विश्लेषण ग्रंथकारों को अभिप्सित रहा है, फिर भी, स्नेहीलता का प्रवाह व्यवहार की ओर सतत् प्रसरित है। सिद्धान्त हीन व्यवहार में भी प्रच्छन्न सिद्धान्त की व्यवस्था विद्यमान होती है। सिद्धान्त की अनभिज्ञता व्यवहार में अविराम विचलनों को पैदा भले कर दें। पर व्यवहार की अक्षुण्यता एवं निरन्तरता कहीं अवरूद्ध नहीं होती। भारतीय जीवन–व्यवहार में इसकी सुन्दर एवं समुन्नत झांकी के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

यद्यपि योग के उपर्युक्त अर्थों में आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग, सायुज्य, समाहार, पर्यवसान, विलय सर्वतो–भावेन प्रसिद्ध रहा है। विविक्षा के अनुसार एवं प्रसंगानुरोध से गीता के विशेष स्थलों में 'योग' शब्द का उक्त अर्थ अभिप्रेत है। (आत्मरूप से अविकृत रहते हुए भी अनात्मजगत् से अभिन्न रहना ही भगवान् का योग है।) गीता का सम्यक् अवगाहन करने से 'योग' का जो अर्थ निःसृत हुआ है उसकी चारूता लभ्यमान है।

फिर भी योग का 'आत्मा का परमात्मा से मिलन या संयोग' अर्थ स्वीकार कर लेने पर एक गूढ़ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब सांख्य योग में ईश्वर का तत्त्वमीमांसीय महत्त्व प्राप्त ही नहीं है तो 'संयोग' अर्थ घटित कैसे होता है? यह एक असाधारण प्रश्न है जिसके उत्तर में मूर्धन्य विद्वानों ने बौद्धिक घपला किया है। वस्तुतः सांख्य ईश्वर के विषय में मौन है, उसे अपनी तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के निराकरण के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती। सांख्य कुल पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है जिसे योग छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर के साथ स्वीकार करता है, किन्तु यहां ईश्वर की भूमिका मात्र समाधि में उपस्थित विघ्नों को दूर भर कर देना है। ईश्वर पुरुष विशेष है, सृष्टि का कारक, धारक या निर्धारक नहीं। अस्तु, 'योग' शब्द का उपर्युक्त सांख्य योग में घटित नहीं होता है।

वस्तुतः सांख्य योग की मूल भावना वियोगात्मक है, जिसमें संयोग का अर्थ भी घटित होता है। इसका लक्ष्य है – 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान'[3] अर्थात् व्यक्त, (सृष्टि) अव्यक्त (प्रकृति) एवं 'ज्ञ' (आत्मा) का विज्ञान – विशिष्टज्ञान, भेद ज्ञान। 'नास्ति', 'न मे' एवं 'नाहम्'[4] इस प्रकार के सतत् तत्त्वाभ्यास से प्रकृति–पुरुष का विशुद्ध एवं 'केवल' विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। यह 'केवल' ज्ञान ही कैवल्य (मोक्ष) है, सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान होने से धर्माधर्मादि की कारणता (भोगादि उत्पादकत्व) नष्ट हो जाती है – 'सम्यग्ज्ञानाऽधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ'[5]। धर्माधर्मादि के नष्ट हो जाने पर संसरण रूक जाता है और संसरण के रूक जाने पर संसार की निःसारता प्रकट हो जाती है (यावत् संसरति तावत् संसारः)। ऐसी स्थिति में वियुक्त हुआ पुरुष प्रेक्षक के समान द्रष्टा भाव से प्रकृति को देखता है[6] – (प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः) और स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित हो जाता है।

सांख्य ने 'स्वस्थ' शब्द का प्रयोग अत्यंत गूढ़ अर्थ में किया है जब पुरुष समस्त व्यक्ताव्यक्त से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक पार्थक्य–बोध–लाभ कर 'स्वस्थ' होता है तो उसे कैवल्यावस्था कहते हैं। **''तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''** (योगसूत्र–3) सांख्य आत्मा के सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कामना करता है क्योंकि आत्मा के 'स्वस्थ' हुए बिना कोई भी सांसारिक क्रिया सहजतया सम्पन्न नहीं हो सकती। यद्यपि पुरुष या आत्मा में क्रिया की गंधमात्र भी नहीं है और न वह कर्ता ही है फिर भी उसकी सन्निधिमात्र से सारी क्रियायें सम्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार प्रकृति एवं उसकी विकृति को स्वस्थ होना भी आवश्यक है।

बुद्धि का कार्य है – 'निश्चय करना' (अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो),[7] 'अभिमान करना' अहंकार का कार्य है (अभिमानोऽहंकारः),[8] तथा संकल्प–विकल्प करना मन का कार्य है (संकल्पकमत्र मनः)।[9] यदि ये तीनों स्वस्थ हैं, अपने में स्थित हैं तो शारीरिक व्यवस्था बनी रहेगी और यदि ये तीनों अपना–अपना कार्य ठीक ढंग से नहीं कर रहे हैं, अस्वस्थ हैं, अपने में स्थित नहीं हैं, तो शारीरिक व्यवस्था भंग होगी, हमारा शरीर रोग ग्रस्त होगा ही। उपर्युक्त त्रिविध अंतःकरण के अतिरिक्त दस बाह्य कारण हैं – कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना एवं नासिका पांच बुद्धि इन्द्रियाँ और वाक्, पाणी, पाद, पायु एवं उपस्थ पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। श्रोतादि पांचों इन्द्रियों का कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध – इन विषयों का आलोचनमात्र (ग्रहण मात्र) है। वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रियों का कार्य वचन–आदान (ग्रहण) विहरण (गमन) उत्सर्ग (मल त्याग) एवं आनन्द (मैथुनकर्म) हैं। शारीरिक व्यवस्था के लिए दस करणों का अपने में स्थित होना परमावश्यक है। इस रहस्य को समझे बिना यौगिक क्रियाओं का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। हम चाहे कोई भी यौगिक क्रिया क्यों न कर लें, स्वस्थित हुए बिना रोग मुक्त नहीं हो सकते।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि शारीरिक स्वास्थ्य का रहस्य क्या है? सांख्य दो प्रकार का शरीर स्वीकार करता है – स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर। हठयोग प्रदीपिका में पांच प्रकार के शरीर स्वीकार किये गये हैं – अन्नमय शरीर (Physical body), प्राणमय शरीर (Energy body), मनोमय शरीर (Mental body), विज्ञानमय शरीर (Wisdom body), आनन्दमय शरीर (Bliss body)। ये पांचों शरीर या कोष सांख्य के द्विविध शरीर भेद में ही अनुस्यूत हैं। वस्तुतः पांच महाभूतों के सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से लेकर महत् पर्यन्त जो कुछ भी सांख्य में कहा गया है, वह सब उक्त पांच शरीरों द्वारा निर्दिष्ट होता है। अब यदि पांच प्रकार के शरीर हैं तो उनके भोज्य भी पांच प्रकार के होने चाहिए। प्रायः हम स्थूल शरीर (अन्नमय शरीर) पर ध्यान तो देते हैं किन्तु हमारा अन्य शरीर उपेक्षित एवं रुग्ण हो जाता है, परिणामतः शारीरिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती हैं। शरीरिक व्यवस्था के लिए पांचों शरीरों पर समुचित ध्यान आवश्यक है।

स्वास्थ्य वर्धक – ठोस, द्रव, गैस, स्मृति एवं आनन्द पदार्थों को समुचित रूप से ग्रहण करने पर शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है। प्रकृतिज होने से स्मृति एवं आनन्द भी पदार्थ ही हैं जो हमारे पांचों शरीरों को पुष्ट एवं संसरण के योग्य बनाते हैं तथा जिसका प्रयोजन है – भोगापवर्ग रूप कैवल्य। इस प्रकार संसरण पूर्ण हो जाने पर चित्तवृत्तियों के निरोध[10] से पुरुष स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है (तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्)[11]। यही सांख्य का लक्ष्य है।

पुरुष–प्रकृति का पृथक्त्व स्थापित कर दोनों का वियोग करके पुरुष का स्व–स्वरूप में स्थित होना ही योग है – 'पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते'। एक भिन्न अर्थ में सुख–दुःख, पाप–पुण्य, शत्रु–मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर समत्व प्राप्त करना भी योग नाम से अभिहित होता है – 'समत्वं योग उच्यते'[12]। इस समत्वयोग की पूर्ण प्राप्ति सांख्ययोग के 'पुरुष' की संकल्पना में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सांख्य पुरुष को सुख, दुःख और मोह के द्वन्द्वों से रहित मानता है। उसे साक्षी, केवल, माध्यस्थ, द्रष्टा और अकर्ता माना गया है। अस्तु, सांख्ययोग में 'संयोग' के साथ ही साथ वियोग अर्थ भी उतना ही महत्वपूर्ण है। अनात्म प्रकृति से वियोग एवं आत्म (पुरुष का स्वरूपावस्थान) से संयोग ही योग है। दुःख आदि अनात्म (प्रकृति) से वियोग एवं द्रष्टा भाव से संयोग ही योग है – 'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।[13] सब जीवों के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का व्यवहार करना, स्वरूपावस्थानरूप अभेदात्मक संयोग एवं भेदभाव जनित दुःखों का वियोग ही परमयोग है।

वस्तुतः एक का निरोध, दूसरे का अनुरोध। वृत्तियों का निरोध, द्रष्टा का अनुरोध। एक ओर वैराग्य, दूसरी ओर अभ्यास। एक ओर से पार्थक्य दूसरी ओर सामीप्य। प्रकृति की विकृतियों का, विचारों का त्याग, आत्मलाभ। 'एतत् न इति' के साथ 'अहम् इति' कहना। यदि ऐसा न होता तो केवल निषेधात्मक निरोध अकिंचित्कर होता, सुषुप्ति–निद्रामात्र होती।

यदि वृत्तियों का निरोध हो जाए तो द्रव्टा, पुरुष, जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है – 'अहमेव केवलः' अहमेव न मत्तोऽन्यत् (भागवत् 11/13/24) इस कैवल्य का अनुभव करता है। योग–सूत्र भाष्य में जीवात्मा परमात्मा के अभेद की चर्चा नहीं की गयी है। सांख्यानुकूल 'पुरुषबहुत्व' माना है और 'पुरुषविशेष ईश्वरः', पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्', क्लेशादि से अपराभृष्ट' निरतिशयसर्वज्ञबीज आदि कहा है। अतः मोक्ष की अद्वैती संकल्पना योग दर्शन में अमान्य है। यहां वियोग की सांख्यीय संकल्पना ही मान्य है। प्रकृति–पुरुष का वियोग ही कैवल्य का मूल है, भेद ज्ञान हो जाने पर स्वरूपलाभ रूप कैवल्य की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। यह प्राप्तस्य प्राप्ति है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन–प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेक मार्ग का पक्षपाती है। योग और वियोग मार्ग में पारमार्थिक भेद न होते हुए भी व्यावहारिक भेद स्पष्टतः दिखायी देता है और भेद के अनुसार सिद्धि में भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्था में संसार में परिभ्रमण करता रहता है, उसमें सूक्ष्म एवं स्थूल भाव परस्पर मिले रहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि पुरुषप्रकृतिसंयोगजात ही है। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभाव में स्थूल का अंश और स्थूलभाव में सूक्ष्म का अंश अनिवार्यरूप से व्यामिश्रित रहता है। तिल में तैल की भांति स्थूल में सूक्ष्म तत्त्व प्रच्छन्नरूपेण निहित है, जिसे यौगिक क्रियाविशेष के द्वारा इसे अलग कर लेने की आवश्यकता है। इसे सांख्य स्वरूप एवं विरूप, तिरोभाव एवं अविर्भाव के सत्कार्यवादी सिद्धान्त से सुतरां सिद्ध करता है।

वेदान्त का पंचकोष–विवेक भी एक प्रकार से विवेक–पंथ के ही अंतर्गत है। वियोग–साधना के द्वारा परस्पर पृथक् रूप में जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं – वे दोनों मूलभूत एक परम पदार्थ के ही पृथक अवभास मात्र हैं, इस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए योग प्रक्रिया का अवलम्बन किए बिना विश्व योग क्षेम की स्थापना नहीं की जा सकती। स्थूल शरीर और लिंग शरीर एक दूसरे के साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्था में एक परम पदार्थ के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वयभाव से ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावों का विकास सम्पन्न होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *गीता – 5/5.*
2. *वही – 5/4.*
3. *सांख्यकारिका का0 – 2.*
4. *वही का0 – 64.*
5. *वही का0 – 67.*
6. *वही का0 – 65.*
7. *वही का0 – 23.*
8. *वही का0 – 24.*
9. *वही का0 – 27.*
10. *योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, योग सूत्र – 1/1.*
11. *वही – 1/3.*
12. *भगवद् गीता – 2/48.*
13. *वही – 6/23.*